॥ ॐ नमः शिवाय ॥
ॐ
विश्वनाथ
वर्ष १
सानन्दमानन्दवने वसन्तमानन्दकन्दं हतपापवृन्दम् ।
वाराणसीनाथमनाथनाथं श्रीविश्वनाथं शरणं प्रपद्ये ॥
अङ्क १०

शिवनामावलिः ।

महादेव ! शिव ! शंकर ! शम्भो !, उमाकान्त ! हर ! त्रिपुरारे ! ।
मृत्युञ्जय ! वृषभध्वज ! शूलिन् !, गङ्गाधर ! मृड ! मदनारे ! ॥
हर ! शिव ! शङ्कर ! गौरीशं, वन्दे गङ्गाधरमीशम् ।
रुद्रं पशुपतिमीशानं, ! कलये काशीपुरनाथम् ॥
जय शम्भो ! जय शम्भो ! शिव !, गौरीशङ्कर ! जय शम्भो ! ॥

विषयानुक्रमणिका

विश्वनाथ के नियम.

(१) यह पत्र प्रत्येक मासके शिवरात्रि (कृष्णपक्ष चतुर्दशी) में प्रकाशित होता है
(२) ज्ञान–भक्ति–वैराग्य–धर्म–आदि विषयोंका विवेचन करना इसका मुख्य उद्देश्य है ।
(३) वार्षिक मूल्य भारतमें रु. ३) अग्रिम लिया जायगा । विदेशमें ५)
(४) एक अङ्कका मूल्य ।) सिर्फ ग्राहकोंके लिये ।
(५) जिन ग्राहकों के पास समयपर पत्र न पहुंचे उनको १५ दिनके अन्दर कार्यालयको अवश्य सूचना कर देनी चाहिये ।
(६) ग्राहक संख्या बढ़ जानेपर पृष्ठ संख्या बढ़ाई जावेगी ।

---

(१) संस्थापक श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी १०८ श्रीमज्जयेन्द्रपुरीजी महाराज महा मण्डलेश्वर ।
(२) सम्पादक स्वामी महेश्वरानन्दजी.
(३) सहकारी सम्पादक स्वामी कृष्णानन्दजी.
(४) व्यवस्थापक ब्रह्मचारी चैतन्यानन्द भूतपूर्व पं. धर्मदत्त शर्मा. मेनेजर ॐ नमः शिवाय बैंक [मन्त्रकोष.]

मार्गशीर्ष सं. १९९२. नवेम्बर सन् १९३५.

पता० विश्वनाथ कार्यालय–'संन्यास आश्रम,' एलिस् ब्रिज अहमदाबाद (गुजरात)

श्रीमान् सेठ छोटेलाल हीराचंदजी को हमारा हार्दिक धन्यवाद है। जिनके समर्पित किये हुये 'संन्यास आश्रम' में इस 'विश्वनाथ' पत्र का कार्यालय है ।

"सम्पादक"

Printed By R. V. Patel, at Shree Narayan P. Press, Opposite P. Dhanjibhai's factory Ahmedabad.
Edited & Published by Swami Maheshvaranand (Visvanath Karyalaya Sanyasta Ashram.)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ नमः शिवाय

विश्वनाथ

ॐ नमः शिवाय

सं. १९९२ मार्गशीर्ष | पुस्तक १ अङ्क संख्या १०

विश्वनाथ ! नमस्तुभ्यं, विश्वकृद्विश्वभुग्विभुः।
विश्वात्मा विश्वमायस्त्वं, विश्वक्रीड़ारतिः प्रभुः॥

योग के अङ्ग।

(गताङ्कसे आगे)

(४१) धारणा का साधन।

आलस प्रमाद दुःसंग आदि, दुर्गुणों को मारना।
उत्साह श्रद्धा प्रेम भक्ति, शान्ति दान्ति धारना॥
एकाग्रता एकान्तता, आनन्दता सुप्रसन्नता।
इत्यादि सद्गुण के सहारे, धारणा जन साधता॥

(४२) धारणा का फल।

जब धारणा दृढ़ होय तब, शिव ध्यान निर्मल होय है।
संसार के व्यवहार में भी, शुद्ध पावन होय है॥
देहादि के सम्बन्ध से भी, लिप्त होता है नहीं।
आकाश सम निर्लेप हो, जगजाल में फसता नहीं॥

(४३) ध्यान का स्वरूप।

संसार की चिन्ता हटे, वैराग्य और विचार से।
आनन्द अद्वय देव की, चिन्ता बने आराम से॥
द्वैत सबका संकल्प जड़मूल से उच्छिन्न हो।
सर्वात्म सच्चिद्ब्रह्म में, मन सर्वदा तल्लीन हो॥

(४४) ध्यान का साधन।

ध्येय ब्रह्म स्वरूप को, सर्वत्र जग में जान रे।
दूजा किसी को मान मत, हरि—एक अद्वय मान रे॥
विश्वास रख अद्वैत पर, नानापने को छोड़ दे।
निर्द्वन्द शान्त सुतृप्त हो, फिर ध्यान में मन जोड़ दे॥

(४५) ध्यान का फल।

ध्याता, चराचर विश्व में, शिवतत्त्व को पहिचानता।
अद्वैत अक्षय विमल आनन्द—सिन्धु में वह डूबता॥
देहादि सब संसार को, वह भूल कर होता अभय।
करके समाधि सिद्ध बन, आनन्द से होती विजय॥

(४६) समाधि का स्वरूप।

सवितर्क आदिक योग की, सविकल्प समाधि होय है।
विकल्प सब मिट जाय तब, निर्विकल्प ही होजाय है॥
जैसे मिलें जल में तरङ्गें, कनक कुण्डल स्वर्ण में।
सब भेद तद्वत् छोड़ कर, संलीन हो निज रूप में॥

(४७) समाधि का साधन।

शिव योग के अष्टाङ्ग से, या ईश के प्रणिधान से।
अद्वैत ब्रह्माकार ही—सब वृत्तियों के योग से॥
वैराग्य के शुभ संग से, आदर सहित अभ्यास से।
चिन्मय समाधी साधता, साधक बड़े आनन्द से॥

(४८) समाधि का फल।

चिन्मय समाधि सिद्ध कर, जगबन्ध से यह छुट गया।
स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त हो, स्वाराज्य अक्षय पागया॥
अद्वैत—अमृत सिन्धु में—परिपूर्ण निश्चल हो गया।
आनन्द अविचल पायकर, कृतकृत्य शिव ही हो गया॥

हरिगीतछन्द 'महेश्वर'

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवर्य्य-अद्वैतब्रह्मविद्यामार्तण्ड-ब्रह्मनिष्ठ-महामण्डलेश्वर

पूज्यपाद स्वामीजी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराजके सदुपदेश—

दृढ़ निश्चय करो ! इस संसार में जो कुछ है, वह सब एक आत्मा ही है, इस से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भ्रान्त दृष्टि से एक ही अपना आत्मा पृथक् पृथक् रूप से दीखता है। वस्तुतः मैं, तू और ये सब कुछ आत्मस्वरूप ही है।

× × ×

अविवेकी विषयलम्पट मनुष्य, जैसी भोग-विलासों में अविचल प्रीति करता है, वैसी ही निश्चलप्रीति एकमात्र आत्मस्वरूप भगवान् में दृढ़ करोगे तब ही तो भक्त बनोगे।

× × ×

छाप, तिलक, व गेरुआ वस्त्र धारण करने मात्र से मनुष्य भक्त नहीं बनता। भक्त तो वह है—जो अपने परम प्रेमास्पद भगवान् से एक क्षण के लिये भी विभक्त (भगवान् के स्वरूप से पृथक्, या भगवच्चिन्तन से विमुख) होना नहीं चाहता। जो भगवान् से विभक्त रहता है, वह भक्त काहे का ?। जल और अग्नि की तरह भक्त एवं विभक्त का महान् विरोध है।

× × ×

याद रक्खो ! संसार का कोई भी पदार्थ न तो दुःखमय है, न तो सुखमय है। किन्तु सिर्फ मन की प्रिय एवं अप्रिय कल्पनासे ही सुख दुःख प्रतीत होते हैं। मन को प्रिय लगने वाला पदार्थ सुखमय है, एवं अप्रिय लगने वाला पदार्थ दुःखमय है। एक ही वस्तु में जब मनीराम प्रीति करता है, तब वह वस्तु सुख की हेतु होती है। वही वस्तु, दूसरे समय में मनीराम की प्रीति हट जाने से, या किसी कारणवश ईर्ष्या क्रोध आदि होने से दुःखदायिनी होजाती है। अतः सुखदुःख मन के ही विकार हैं, मन में ही संसार है। इस लिये मन की ही चिकित्सा करो।

× × ×

याद रक्खो ! अगर आप को बुरा नहीं होना है तो आप दूसरों का बुरा न चाहो, न कहो, और न करो। जो मनुष्य अपने समान दूसरों का बुरा नहीं चाहता, नहीं कहता, एवं नहीं करता है, उसका कभी भी बुरा नहीं होता है।

× × ×

कर्म वही है, जो आसक्ति का कारण न हो, इस के अतिरिक्त और सब कर्म परिश्रमरूप, एवं बन्धन के हेतु हैं। विद्या वही है, जो मुक्ति का साधन हो, इस के अतिरिक्त सब विद्याएँ वस्तुतः विद्या नहीं हैं, किन्तु कलाकौशल्यमात्र हैं, या केवल जीविका की साधन हैं।

÷ ÷ ÷

जब विवेकी भक्त के हृदय में "यहां, वहां, सर्वत्र, सर्वात्मा, सर्वमय सर्वेश्वर भगवान् नारायण ही विद्यमान है" ऐसा सुदृढ़ निश्चय होजाता है, तब उस के हृदय में यह अच्छा है, यह बुरा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, इत्यादि भेदभाव कैसे रह सकता है ?।

अत एव विष्णुपुराण में ज्ञानी भक्त प्रवर प्रह्लादजीने दैत्यों के प्रति कहा है—

विस्तारः सर्वभूतस्य, विष्णोः सर्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मवत्तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥

(१–१७–८४)

अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् सर्वभूतमय भगवान्

विष्णु का ही विस्तार है, अर्थात् विष्णुस्वरूप ही है। अतः विचक्षण पुरुषों को यह जगत् अपने आत्मा के समान अभेद रूप से देखना चाहिये; अर्थात् अपने आत्मा को तथा सम्पूर्ण जगत् को विष्णु स्वरूप ही निश्चय करना चाहिये।

÷ + ÷

याद रक्खो! 'सर्वमिदमहञ्च वासुदेवः' मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र वासुदेव ही है, वासुदेव से भिन्न और कुछ भी नहीं है; ऐसी अभेद-अद्वैत भावना जिस की दृढ़ हो जाती है, उसे फिर रागद्वेषादि द्वन्द्वरूपी रोग सता नहीं सकते हैं। वह पूर्ण आरोग्य, देवोंसे भी वन्दनीय, धन्य एवं कृतकृत्य होजाता है।

÷ + ÷

संसार के पदार्थों का जितना जितना संग्रह किया जाता है, उतना उतना ही वे मनुष्य के चित में आसक्ति, तृष्णा, वियोग आदि के द्वारा दुःख बढ़ाते जाते हैं। कहा है—

यावतः कुरुते जन्तुः, सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते, हृदये शोकशङ्कवः॥

(विष्णुपुराण० १-१७-६६)

अर्थ—यह जीव, अपने मन को अच्छे लगने-वाले जितने जितने इष्ट वस्तुओं के सम्बन्धों को बढ़ाता जाता है। उतने उतने ही उसके हृदय में शोकरूपी शल्य (कीले) गड़ते जाते हैं।

÷ + ÷

याद रक्खो! इस मनके विविध मनोरथों की हजारों लाखों वर्ष में भी पूर्ति नहीं हो सकती है। मनोरथोंसे केवल आयु का व्यर्थ क्षपण होता है, और अन्तःकरण दूषित होता है। उन मनो-रथों में से अगर कदाचित् कुछ सौभाग्यवश पूर्ण भी होजाते हैं; लेकिन उन के स्थान पर अन्य अनेक नये मनोरथों की उत्पत्ति होजाती है। जिस के चित में मनोरथों की आसक्ति होती है, वह कभी भी ब्रह्मतत्त्व के अखण्ड चिन्तन में नहीं लग सकता है, अतः इन परमार्थसे भ्रष्ट करने वाले मनोरथों को छोड़ कर ब्रह्मचिन्तन करने वाला ही बुद्धिमान् मनुष्य है। (क्रमशः)

योगतत्त्व-मीमाँसा।

[लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-ब्रह्मनिष्ठ-महामण्डलेश्वर-पूज्यपाद-श्रीस्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज]

[गतांकसे आगे]

अब क्रम प्राप्त अस्तेय का निरूपण करते हैं—

अस्तेय का स्वरूप।

स्तेय के अभाव का नाम अस्तेय है। स्तेय नाम चोरी का है, अर्थात् चोरी का अभाव ही अस्तेय है। अन्याय से, जबरदस्ती से, शास्त्र की एवं लोक की मर्यादा को तोड़ कर, अन्य मनुष्य की वस्तु का ग्रहण करना यह शारीरिक चोरी कहलाती है। मोहक एवं अन्य को फँसानेवाले चाटु वञ्चक वचनों को बोल कर, अपने नीच स्वार्थ को सिद्ध करना यह वाचिक चोरी है। और अन्य के द्रव्य की हृदय में स्पृहा करनी यह मानसिक चोरी है। स्पृहा (अभिलाषा) रूप मानसिक चोरी ही वाचिक एवं कायिक चोरी का मूल है, क्योंकि मन के व्यापार पूर्वक ही वाणी और शरीर का व्यापार होता है; अतः अन्य के धनादिक की स्पृहा का नाम ही मुख्य चोरी है। स्पृहा का

अभाव ही मुख्य अस्तेय का स्वरूप है।

वस्तुतः देहगेहादिक यावत् मायिक पदार्थ माया के हैं, आत्मा को असंग निर्विकार शुद्ध चेतन स्वरूप होने से आत्मा का कुछ भी नहीं है; अतः देह गेहादिक मायिक पदार्थों की स्पृहा करना, व अपना सम्बन्धी समझना महान् चोरी है, इस चोरी का अभाव होने से अस्तेय का स्वरूप सिद्ध होता है। जावाल दर्शनोपनिषत् में इस प्रकार कहा है—

अन्यदीये तृणे रत्ने, काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा।
मनसा विनिवृत्ति र्या, तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥
(१–११)

अर्थात् दूसरे की वस्तु चाँहे तुच्छ से तुच्छ तृण समान हो, या बहु मूल्य रत्न हो, सुवर्ण हो या मोती हीरा आदिक हो, इन दूसरे की तमाम वस्तुओं की विवेकवाले मन से जो स्पृहा का न करना है, उस को विद्वान् लोग अस्तेय कहते हैं।

और अध्यात्म दृष्टि से अस्तेय का स्वरूप जावाल दर्शनोपनिषत् में इस प्रकार कहा है—

आत्मन्यनात्मभावेन, व्यवहारविवर्जितम्।
यत्तदस्तेयमित्युक्त—मात्मविद्भिर्महामते ! ॥
(१–१२)

विशुद्ध आत्मा में अनात्म देहादि प्रपञ्च का आरोप करके मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गौर हूँ, खुबसूरत हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, आदि व्यवहार करना; इस का नाम स्तेय है। और आत्म के विशुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप में निष्ठा रख कर, देहादिक प्रपञ्च के अध्यास को हटा कर, मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, सर्वव्यापक हूँ, नाम रूप गुण जाति सम्बन्ध से रहित हूँ, परिपूर्ण अखण्ड एकरस साक्षात् परब्रह्म हूँ, इस प्रकार सुदृढ़ विशुद्ध भावना को निरन्तर करना, अस्तेय है। इस प्रकार आत्मतत्त्व को जाननेवाले महात्मालोग कहते हैं। अर्थात् पाँच भूतों से बने हुये इस साढ़ेतीन हाथ के देह को ही आत्मा मान कर इस अधम देह की ही चटक—मटक और फैशन पर जो मुग्ध रहता है, और इन मायाविनी इन्द्रियों के भोग विलासों में ही चूर रहता है; वही संसार में सब से बड़ाभारी डाँकू है। और जो इस देहेन्द्रियादि प्रपञ्च से अत्यन्त उपराम होकर आत्मतत्त्व में ही पूर्ण निष्ठा रखता है। वही सच्चा साहुकार है, वही श्रद्धेय एवं धन्य है, और समग्र भूमण्डल का अलंकार रूप है। अत एव शास्त्र में कहा है—

धन्या मान्याश्च पूज्याश्च, त एवालंकृतिर्भुवः।
भवभोगविरक्ता येऽनुरक्ताश्चन्द्रशेखरे॥

अर्थात् जो संसार के भोगों से विरक्त हैं, और चन्द्रशेखर—महादेव रूप अपने आत्मा में अनुरक्त हैं, वे धन्य हैं, मान्य हैं, पूज्य हैं, और पृथ्वी देवी को सुशोभित करनेवाले भूषण रूप हैं।

अस्तेय का साधन।

धनादि पदार्थों में वार वार दोष दर्शन कर मनको विवेक विचार से समझाना, यह निःस्पृहता रूप अस्तेय का साधन है। दोष दर्शन का प्रकार—

रे दुष्ट मन ! जिन धनादि पदार्थों की तू निरन्तर स्पृहा करता है, क्या वे वस्तुतः सुख शान्ति के साधन हैं ? दुनियाँ में कौन सा धनी जागीरदार राजा महाराजा शान्त एवं सुखी हैं ? इन लोगों को धनादि से क्या कभी पूर्ण तृप्ति भी हुई है ? ज्यों ज्यों धनादि बढ़ता जाता है, त्यों

त्यों तृष्णा अग्नि की तरह उन लोगों के हृदय को जलाती ही रहती है, एक मिनिट का भी चैन लेने नहीं देती है। अत एव शास्त्रों में तृष्णा को राक्षसी कहा है, और तृष्णावाले को दरिद्री कहा है, चाँहे लौकिक धन कितना भी क्यों न हो, तथापि स्वेष्ट भोगों का अभाव शूल की तरह हृदय में निरन्तर चुभता ही रहता है। मैले पर मक्खियों की तरह अनेक आधि (मानसिक पीड़ा) विविध व्याधि एवं कष्टप्रद अनेक उपाधियाँ मँडराया करती हैं। और भोगविलासों की बहुलता से दुःख एवं संकट बढ़ता ही जाता है। धन के लोलुप बदमास गुण्डे धन के लिये धनिओं के प्राणों का भी विध्वंस करने का सर्वदा मौका देखते ही रहते हैं। इतिहासों के द्वारा बहुत ही उदाहरण सुनते हैं कि—अमुक बादशाहने अपने बाप को भी मारकर राज्यसिंहासन लिया था। अमुक व्यक्ति ने धन के लिये अपने भाई को भी मार दिया था, इत्यादि।

धनादि के सम्बन्ध से प्रायः पाप, अभिमान, ईर्ष्या आदि नरक देनेवाली सामग्री जुट जाती है। धनवान् को प्रायः असली महात्माओं का मिलाप होना, एवं अपने कल्याण के लिये उन से सदुपदेश ग्रहण करना बहुत ही कठिन होजाता है। क्योंकि धनी प्रायः अपने पोजीशन के गर्व में चूर रहते हैं, सच्चे विरक्त महात्माओं के पास जाने में उन को शर्म आती है, और धनी लोग प्रायः यह भी समझते हैं कि—'कहीं इन लङ्गोटियों के पास में जाकर हमारे पोजीशन में कलंक न लग जाय'। मतलबीयार खुशामदी एवं लुच्चे मनुष्यों के चटकीले गंदे एवं प्रशंसा भरे वचनों को सुन कर वे प्रायः फूले नहीं समाते हैं। अतः कथंचित् कोई असली महात्मा को मिलने पर भी उन के श्रद्धा शून्य हृदय में महात्मा के उपदेश को भीख माँगने का साधन समझ कर स्थान नहीं मिलता है। और धनियों को प्रायः अनेक प्रकारकी झंझटों से निकम्मे काम, गप्प शप्प से फुरसत भी प्रायः नहीं मिलती है। भोगविलासों की अधिकता होने से पापी जीवन में ही उन के दिन चले जाते हैं। अत एव अरे मनीराम! प्रायः नरक के मार्ग को तैय्यार करनेवाले इन धनादि पदार्थों की स्पृहा को छोड़ कर अब तो शान्त होजा।

इस लिये शास्त्र में कष्टप्रद धनादि अर्थ को धिक्कार दिया है—

अर्थस्योपार्जने दुःख-मर्जितस्यापि रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

अर्थात् धनादि अर्थ के उपार्जन में दुःख एवं इकठे किये हुये धनादि के रक्षण में दुःख, खर्च होनेपर दुःख और नष्ट होनेपर महा दुःख, इस लिये अनेक दुःखों का निधिरूप इस धनादि अर्थ को धिक्कार हो।

धन के दर्शनमात्र से मूढ मनुष्य पागल होजाता है, इस विषयमें एक दृष्टांत इस प्रकार है—

भागीरथी गंगा के किनारे एक ग्राम में एक साधारण मनुष्य रहता था। वह प्रायः गंगाजी स्नान करने के लिये जाया करता था। वर्षा के दिनों में एक रोज वह प्रातःकाल चार बजे स्नान करने गया, वर्षा विशेष होने के कारण गंगाजी में पानी खूब आया था। तीव्र प्रवाह से बहुत कुछ किनारा भी कट गया था, इस लिये किनारे में दबी हुई, स्वर्ण मोहरों से भरी हुई, एक गागर इस मनुष्य की दृष्टि में आयी, खुशीका पार नहीं

रहा। इस गागर के चारों तरफ पुराणी बहुत चिकनी मट्टि लग रही थी, उस मट्टि को निकालने के लिये जोरों से बहते हुये गहरे पानी में वह मनुष्य गागर को धोने लगा। दैवयोग से उस के हाथ से वह गागर खिसक गई। शोकपूर्ण हृदयसे हाय हाय करता हुआ दो चार घण्टे पर्यन्त बहुत ढूँढनेपर भी उस मनुष्य को वह गागर नहीं मिली। न मिलने के कारण हृदय में बड़ा भारी आघात होगया, और वह मनुष्य सदा के लिये पागल सभा का सदस्य होगया। जो कोई स्नेही जानकार पूछे कि—भाई! क्या बात है? दिवाना क्यों बन गये हो? तो वह बिचारा केवल अपने हाथों को मलकर आँसु बहाता हुआ कहता था कि—हाय हाय!! चली गई, वो गई इत्यादि।

धन के सम्बन्ध से कई धनी मनुष्यों के प्राण भी नष्ट होगये हैं, ऐसे बहुतसे उदाहरण मिलते हैं, लेकिन एक विलक्षण उदाहरण यह है कि—धनी मनुष्य के यत्किञ्चित् सम्बन्ध मात्र से अकिञ्चन विरक्त सुयोग्य महात्माके भी प्राण हरिः ॐ तत्सत् होगये हैं। थोड़े समय की बात है—

कानपुर के पास गंगा किनारे एक जंगल के एकान्त प्रदेश में एक सुयोग्य भजनानन्दी विरक्त अकिञ्चन ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी महात्मा रहते थे। दोचार पुस्तक और स्वल्प दोचार काषाय वस्त्र से अतिरिक्त कुछ भी नहीं रखते थे। और पास के ग्रामों की भिक्षा से निर्वाहकर एक घास की बनी हुई मामुली कुटिया में निवासकर दिन कटी करते थे। एक दिन कानपुर का एक धनाढय मारवाड़ी सेठ अपनी सेठानी सहित इस महात्मा के दर्शन व सत्संग के लिये वहाँ जंगल में जा पहुँचा। सत्संग में विशेष रुचि बढ़ जाने के कारण, पत्नी सहित सेठने महात्मा की कुटिया के पास की कुटिया में रात्रि काटने के लिये निवास किया। रात्रि में करीब १०-११ बजे कानपूर से ही सेठ के पीछे लगे हुये चार पाँच डाँकू वहाँ आपहुँचे, और सेठ सेठानी को जेवर आदि माल ताल के लिये धमकाने लगे। किन्तु इन के पास विशेष माल ताल न होने के कारण सेठ सेठानी को वे डाँकू बुरी तरह से पीटने लगे। सेठ सेठानी का रोना एवं पुकार सुन कर पास के कुटिया में वर्तमान दयालु स्वामीजी आपहुँचे। और देखा कि—चार पांच डाँकू सेठ-सेठानी को पीट रहे हैं। इन डाँकूओं मेंसे एक डाँकू स्वामीजी के जान पिछान का निकला, अतः स्वामीजी इस का नाम लेकर कहने लगे—अरे भाई! तुम भी ऐसा काम करते हो, बड़ी ही लज्जा की बात है। बस अब क्या था, आखिर डाकू तो ठहरे। 'यह साधु हममें से एक को जानता है, अतः हम को पकड़ा देगा' ऐसा विचार कर स्वामीजी की वाङ्मय शिक्षा को वे दण्डों के द्वारा स्वामीजी को ही वापिस देने लगे। यहाँ तक वे डाँकू स्वामीजी के ऊपर टूट पड़े उन का काम तमाम खतम कर दिया; उन की लाश तक को लापता कर दिया। सेठ व सेठानी के पास जो कुछ था उसको लेकर छोड़ दिया। प्रातःकाल कानपूर में सेठ के द्वारा इस घटना का हाल विजली की तरह सारा शहर भर में फैल जाने से बड़ाभारी हाहाकार हो गया। पुलिसने बहुत कुछ खोज की, लेकिन कुछ भी पता नहीं चला, यह सब अनर्थ धनी के सम्बन्ध से ही हुआ था।

श्रीमद्भागवत में कहा है—

स्तेयं हिंसाऽनृतं दम्भः, कामः क्रोधः स्मयो मदः।

भेदो वैरमविश्वासः, संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पंचदशाऽनर्थाः, ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं, श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
(११।२३।१८–१९)

अर्थात् मनुष्य को धनादि अर्थ की प्राप्ति के लिये स्तेय, हिंसा, अनृत, दम्भ, (दूसरों को ठगने के लिये झूठा वेष–भूषा व धर्माचरण आदि करना) काम और क्रोध ये ६ अनर्थ करने पड़ते हैं। और धनादि अर्थ के प्राप्त होने पर स्मय, मद, भेद, वैर, अविश्वास, संस्पर्धा, और तीन प्रकार के व्यसन, ये नौ अनर्थ होते हैं। स्मय नाम(१) गर्व का है। दूसरों को तुच्छ समझकर अपने को श्रेष्ठ समझने का नाम मद है। भेद, आपस में कलह पैदा कर देने को कहते हैं। वैर नाम शत्रुता का है। दूसरों की बड़ाई को सहन न करना संस्पर्धा कहलाती है। स्त्रीव्यसन, द्यूत-व्यसन, और मद्यव्यसन ये तीन व्यसन हैं। सब मिलकर ये पंद्रह अनर्थ धनादिक के सम्बन्ध से ही होते हैं, अतः यह धनादि अर्थ वस्तुतः अनर्थ ही है। जैसे बकरी के गले में लटकते हुये स्तन कहने मात्र के ही स्तन हैं, वस्तुतः दुग्ध को नहीं देने से वे स्तन नहीं हैं; किन्तु माँस के लम्बे टुकडे मात्र ही हैं। वैसे ही यह धनादिक अर्थ कहने मात्र का अर्थ है। असली सुख और शान्ति को नहीं देने से, और विविध उपद्रवों का कारण होने से वस्तुतः वह अनर्थ ही है। अतः अपने कल्याण की इच्छा करनेवाला मनुष्य अनर्थत्व को छिपाकर अर्थ रूप से प्रकट होनेवाले धनादि अनर्थ को छोड़ देवे।

श्रुति भगवती भी कहती है–'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' किसी के धन की इच्छा न करो। अथवा यावत् अपने पराये प्राप्त व अप्राप्त किसी द्रव्यादिक वस्तु की इच्छा न करो, क्योंकि–धन किस का है, अर्थात् किसी का भी नहीं है। जिस धन के लिये यह अभागी मनुष्य अनेक प्रकार के पापकर्मो को करता है, रात्रि–दिन हाय हाय मचाता है। मगर अन्त में एक फूटी कौड़ी भी इस के साथ नहीं चलती है। इस भूमण्डल में बड़े बड़े राजा महाराजा तथा बादशाह होगये हैं, क्या वे अपने खजाने को साथ ले गये?। शास्त्र में कहा है—

मित्रं कलत्रमितरः परिवारलोको,
भोगैकसाधनमिमाः किल सम्पदो नः ।
एकः क्षणः स तु भविष्यति यत्र भूयो,
नायं न यूयमितरे न वयं न चैते ॥

अर्थात् प्यारा मित्र, प्यारी स्त्री, प्रियपुत्रादि परिवार, और विविध भोगविलासों का साधन धनादि सम्पूर्ण सम्पति क्षणभङ्गुर हैं; क्योंकि एक समय वह आवेगा कि–जहाँ न हम रहेंगे, न आप रहेंगे, न ये इतर मायिक पदार्थ रहेंगे।

श्रीमद्भागवत में भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादजी भी कहते हैं—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो,
गृहा महीकुञ्जरकोशभूतयः ।

(१) लावण्यरूपतारुण्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः । इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व इष्यते ।
अर्थात् लावण्य से, या सुन्दर रूप से या मदोन्मत्तयुवावस्था से, या विद्या आदि गुणों से, या राजा आदि बड़े पुरुषों के आश्रय से एवं धन सुन्दरस्त्री पुत्र आदि इष्ट वस्तु के लाभ से, दूसरे मनुष्यों का वाणी से या मन से तिरस्कार करना गर्व कहा जाता है।

सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः,
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः॥
(७–७–३९)

अर्थ—विविध धनादि सम्पति, सुन्दर स्त्री, अश्व गायादि पशु; मनोहर मकानात, बड़े बड़े हाथी, खजाना, और महान् वैभव आदि तमाम शब्दादि विषयभोग; क्षणभङ्गुर आयुवाले एवं मरण–शरण के लिये पैदा होने वाले मनुष्य को क्या एवं कितने कहांतक प्रिय होसकते हैं? अर्थात् संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, पर्वत के शिखर में स्थित ध्वजा के अग्रभाग की तरह महान् चञ्चल हैं, और मनुष्य का जीवन भी अविश्वसनीय है, क्षणभङ्गुर है। अत एव मनुष्य अपने क्षणभङ्गुर जीवन में इन मायामय चञ्चल पदार्थों से क्या सुख उठा सकता है?।

सिकन्दर की नसीहत (उपदेश)

बादशाह सिकन्दर, मरते समय प्यारी स्त्री पुत्र धनादि वस्तुओं के वियोगजन्य शोक से, एवं विविध व्याधियों के दुःख से, और बुरे जुल्मी कर्मों के पश्चात्ताप से, अत्यन्त व्याकुल होकर आँसु बहाकर रो रहा था। इसी समय वजीर लोगों ने तथा स्नेही सम्बन्धियों ने सिकन्दर से अर्ज की—सरकार! अब आपके शरीर का कुछ भरोसा नहीं है। आप के पीछे इस तख्त का इन्तजाम किस प्रकार किया जाय, जनाजे (लाश) की कब्र कहाँ व कैसी बनाई जाय? हमारी इच्छा है कि—'आप की कब्र में बेश कीमती जवाहरात हीरे आदि जड़वाये जावें। और आप के जनाजे को किस प्रकार सजाया जावे, विमान किस प्रकार बनाया जावे, कितना खजाना लुटाया जावे इत्यादि।

तब सिकन्दर बादशाह कहने लगा कि—मेरे मृतक शरीर को दो सूकी लकड़ियों के ऊपर रखकर, और उस जनाजे के ऊपर पुष्प वस्त्रादिक कुछ भी न डालकर एकदम नंगी लाश को शहर की गली गली में घुमाना। और इसमृतक शरीर के पीछे तोपखाने, रिसाले, पल्टन, और हमारे खजाने के सबके सब विविध रत्न जवाहरात जेवर मोहर रुपये आदि का प्रदर्शन कराना। जिससे संसार के तमाम मनुष्यों को निश्चय होजावे कि—**'सिकन्दर जब चला दुनियाँ से, तब दोनों हाथ खाली थे'**।

अत एव भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कर स्वामी ने कहा है **'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'** अर्थात् मुमुक्षु साधकों को चाहिये कि—वे जिन धनादि पदार्थों को विषयी पामर लोग अर्थ कहते हैं, उन में महान् अनर्थ की दृढ़ भावना करें। "सम्पूर्ण धनादि पदार्थ मृगतृष्णा के जल की तरह, अथवा स्वप्न जगत् की तरह मिथ्या माया मात्र हैं" ऐसा पूर्ण निश्चय करना ही निस्पृहतारूप अस्तेय की सिद्धि का साधन है।

अस्तेय का फल।

पातञ्जलयोगदर्शन में कहा है—**'अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** अर्थात् जिस महापुरुष को अस्तेयकी सिद्धि होजाती है, उसको सर्व दिशा विदिशाओं में व सर्वत्र पृथिवी में जहाँ जहाँ विविध रत्नादिक निधि गड़ी हो, वह सब दीखने लग जाती है।

इन मायामय पदार्थों का यह स्वाभाव है कि—माँगे तो भागे, और त्यागे तो आगे। बहुतसे वञ्चक साधु का वेष बनाकर गली गलियों में भीख माँगते रहते हैं, लेकिन उन को पेट भर खाने को भी नहीं मिलता है। और जो असली संन्यासी

महात्मा, संसार से मुख मोड़कर एकान्त में उपराम होकर रहते हैं, उन को इच्छा न रहनेपर भी विविध वस्तुओं की प्राप्ति देखी जाती है। मतलब यह है कि—मनुष्य की इस मायामय संसार से जितनी जितनी स्पृहा की मात्रा कमती होती जायगी, उतनी उतनी जबरदस्ती से मायिक पदार्थों की प्राप्ति बढ़ती जायगी। तथापि असली महात्मा इन मायिक विविध पदार्थों की प्राप्ति को बड़ा भारी विघ्न समझते हैं। और वे ऐसे स्थानमें गुप्त रूप से रहना चाहते हैं, कि—जहाँ उन की सचाई को व असली स्वरूप को जानने वाला कोई न आसके। संसार के सामने वे कदाचित् भी प्रकट होना नहीं चाहते हैं। जब कहीं प्रगट होते हैं तो माया घेर लेती है।

अस्तेय की सिद्धि के विषय में एक दृष्टान्त इस प्रकार है—

गुजरात देश में एक अखा नाम का अद्वैत वेदान्ती भक्त होगया है। कहते हैं कि—उस के पास लोह को स्पर्शमात्र से स्वर्ण बनाने वाली पारसमणि थी। पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से, या सत्संग के प्रभाव से, उस को संसार से उपरामता प्राप्त हुई, और हृदय में तीव्र मुमुक्षा (संसार से छूटने की इच्छा) एवं सच्ची तत्त्व बुभुत्सा (तत्त्व को जानने की इच्छा) हो गई। अब क्या था! समृद्धिशाली अपने घरबार को तथा तमाम परिवार को छोड़कर वह असली सद्गुरु को ढूँढ़ने के लिये निकल पड़ा, किन्तु वह अपनी प्यारी पारसमणिको एक छोटी सी डिबिया में रखकर अपने बड़े बड़े बालों में छिपाकर के रखता था। प्रथम तो उसको धनहरणकुशल विषयी पामर नाममात्र के नकली गुरु मिले, किन्तु कुछ काल उन दाम्भिक लोगोंके पास रहने से, जब उन्हीं का नीचस्वार्थ एवं दम्भ प्रकट होगया; तब वह उन दम्भी गुरुओंका पल्ला छोड़कर स्वच्छन्दता से भ्रमण करता करता हिमालय पर्वत में जा पहुँचा। वहाँ गंगाजी के स्वच्छ एकान्त तट के उपर एक विरक्त संन्यासी महात्मा की कुटी थी। वहाँ अखा भक्त ने जाकर महात्माजी को नमस्कार करके अपनी जिज्ञासा को प्रकट किया। महात्माजीने योग्य अधिकारी जान कर के उस को अनेक प्रकार की योग क्रियाएँ सिखायीं तथा तत्त्वोपदेश भी किया; लेकिन उसको साधन के अनुरूप यथेष्ट योगस्थिति प्राप्त न होती देखकर महात्माजी विचार करने लगे कि—बात क्या है? बढ़िया बढ़िया अनुभूत साधन बतलाने पर भी असली स्थितप्रज्ञ की स्थिति इस को क्यों प्राप्त नहीं होती है?। योगीराज गुरु महाराजने जब अपनी योगमयी दिव्य दृष्टि से गौर कर के देखा, तब मालूम हुआ कि—अहो!! इस की बड़ी भारी ममता एक पारसमणि में है, जिस को यह सर्वदा अपनी जटा में रखता है। बस यह पारसमणि का स्नेह ही योगसिद्धि में प्रतिबन्धक है; क्योंकि यावत् स्नेहरहित पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त होता है। अतः 'इस की ममतास्पद पारसमणि छीन लेनी चाहिये' ऐसा महात्माजीने निश्चय किया। नियम के अनुसार जब वह नमस्कार करने के लिये आया, तब महात्माजीने इस के केशोंको जल्दी से पकड़कर पारसमणिकी डिबिया को ले लिया। फौरन डिबिया को खोलकर पारसमणि निकाल ली। और कहने लगे कि—अरे अखा! क्या तू इस मामूली तुच्छ पत्थर को अपने शिर में छिपाकर रखता है? अखा कहने लगा कि—भगवन्! यह मामूली पत्थर नहीं है,

किन्तु लोह को सुवर्ण बनाने वाली पारसमणि है, यह बहुत ही अमूल्य एवं दुर्लभ वस्तु है। महात्माजी कहने लगे कि—अरे भाई ! यह पारसमणि चाहे लोहा को सुवर्ण बना देवे, तो भी तेरे किस काम की, तू तो विरक्त बना है। इस मणि से लोह सुवर्ण भी बन गया तो भी क्या हुआ ? सुवर्ण भी तो आखिर मट्टी ही है। विरक्त महा पुरुषों की दृष्टि में तो सुवर्ण और मट्टी बरोबर है। गीता में देख !! भगवान् श्री मुख से क्या उपदेश दे रहे हैं—'**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**' ऐसा कहकर महात्माजीने जल्दी से सामने बहती हुई गंगाजी के गहरे तीव्र प्रवाह में इस अखा भक्तकी पारसमणि फेंक दी। और धमकाकर कहने लगे कि—अब तू इस तुच्छ पत्थर के मोह को छोड़कर योगानुष्ठान में तत्परता से लगजा।

अखा भक्त महात्माजी के दिव्य प्रभाव के सामने इस समय कुछ भी न कह सका, लेकिन प्यारी पारसमणि के वियोग से वह शोकसागर में डूब गया। और वह योगाभ्यासादि सब कार्य को छोड़कर अत्यन्त विह्वलता से आँसु बहाता हुआ अपनी कुटिया में दिनभर पड़ा रहा। जब महात्माजी को इसके विशाल शोक का पता लगा, तब स्वयं उस के पास जाकर और उस को उठा कर टहलने के बहाने से गंगा किनारे ले गये। और अपने निस्पृहता रूप अस्तेय की सिद्धि के प्रभाव से उस भक्त को गंगाजी में पारसमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि प्रभृति विविध मणियों के ढेर को दिखाकर कहने लगे कि—रे मूढ़ ! तू अपनी पारसमणि को इस मणियों के ढेर में से ढूँढले, कौन तेरी पारसमणि है ?। अहा !! अब क्या था, चमत्कार के सामने नमस्कार। शीघ्र ही अखा भक्त का मोहपरदा टूट गया। और इन साक्षात् शङ्कर स्वरूप महात्माजी के चरणों में दण्ड की तरह गिर कर कहने लगा कि—हे दयालु गुरुदेव ! मुझ दीन के ऊपर कृपा कीजिये, मुझे अब आप की कृपा से इस तुच्छ पारसमणि की अपेक्षा नहीं है। मुझ मूढ के अपराधों को क्षमा कीजिये। आप कृपासागर एवं दीनवत्सल हैं। पश्चात् महात्माजी ने इस भक्त को असली योग साधन में लगाकर अपने सदृश सिद्ध बना दिया। अहा !! कृपानिधान सद्गुरुदेव की महिमा अपरंपार है; अतएव आचार्य्यश्री शङ्करभगवत्पाद ने कहा है—

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरो र्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्॥
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि॥

(शतश्लोकी—वेदान्त केसरी श्लो० १)

सर्वोत्तम, अमूल्य, अद्वैतब्रह्मात्मतत्त्वज्ञान को देनेवाले सद्गुरु की उपमा देनेके लिये तीन भुवन के मध्य में बहुत कुछ खोज करने पर भी दृष्टान्त नहीं मिल सकता है। यदि कहो कि—पारसमणि दृष्टान्त होसकती है; परन्तु पारसमणि भी दृष्टान्त नहीं हो सकती है। क्योंकि पारसमणि लोह को स्वर्ण बना देती है, लेकिन पारसमणि (अपने सदृश) तो नहीं बनाती है। और सद्गुरु तो अपने चरणकमलाश्रित श्रद्धालु अधिकारी शिष्य को अपने सदृश ब्रह्मरूप पूर्ण सिद्ध बना देते हैं; अतः सद्गुरु उपमारहित एवं अलौकिक हैं।

परमविरक्त एवं निस्पृह सिद्ध गुरुदेव की जहाँ तक प्राप्ति एवं उनकी कृपा नहीं होती है, वहाँ तक यह मनुष्य सर्व अनर्थ से निवृत्त होकर, पर-

मार्थतत्त्व का साक्षात्कार कर कृतकृत्य नहीं होसकता है। अत एव श्रीमद्भागवत में कहा है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं,
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं,
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।
(७-५-३२)

अर्थ—जबतक ये मनुष्य, निष्किञ्चन निस्पृह महापुरुषों के चरणकमलों की धूलि से अपने शिर में अभिषेक नहीं करते हैं, तबतक इन लोगों की बुद्धि, भगवान् के दिव्य पादपद्म का साक्षात्कार नहीं कर सकती है, एवं संसाररूप अनर्थ की निवृत्ति और परमार्थ ब्रह्मभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

(क्रमशः)

हरि-हर का अभेद।

(गताङ्क से आगे)

विष्णु श्यामवर्ण क्यों? एवं शङ्कर गौरवर्ण क्यों?

किसी समय में एक तत्त्वबुभुत्सु श्रद्धा-भक्तिसंपन्न शिष्य, एकान्त शुद्ध गंगातट निवासी सकलशास्त्रनिष्णात ब्रह्मनिष्ठ-विरक्त अपने सद्गुरु के समीप जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर, गुरु आज्ञा को ग्रहण कर इस प्रकार प्रश्न करता भया—

हे दयालु गुरुदेव! भगवान् विष्णु सत्त्वगुणमयी माया के अधिपति व नियामक हैं; अतः श्री विष्णु का विग्रह शुक्ल वर्ण का होना चाहिये था। परन्तु 'मेघवर्णं शुभाङ्गम्' 'मेघश्याम-मुदारपीवरचतुर्बाहुं' इत्यादि अनेक शास्त्र वचनों से श्रीविष्णु श्यामवर्णवाले क्यों कहलाते हैं?

एवं भगवान् शङ्कर तमोगुणमयी माया के अधिपति व नियामक हैं, अतः श्रीशङ्कर का विग्रह श्यामवर्णवाला होना योग्य था। परन्तु 'कर्पूरगौरं' 'रजतगिरिनिभं' इत्यादि अनेक शास्त्र वचनों से श्रीशङ्कर शुक्लवर्णवाले क्यों कहलाते हैं?

इस प्रकार शिष्य के युक्तिपूर्ण प्रश्न को सुन कर गुरुदेव कुछ मुसकरा कर कहने लगे कि—हे वत्स! अपने सच्छास्त्रों का ऐसा सिद्धान्त है कि—भगवान् विष्णु शैव हैं, अर्थात् शिव भक्त एवं शिवोपासक हैं, अत एव विष्णु भगवान् अहर्निश श्रीशङ्कर का ध्यान करते रहते हैं; 'विष्णोश्च हृदये शिवः' इत्यादि शास्त्र भी इस विषय को स्पष्ट कहते हैं। 'ध्यान के प्रभाव से ध्याता ध्येय रूप हो जाता है' ऐसा सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

वस्त्वन्तरासक्तिमपास्य कीटको,
ध्यायन्यथालिं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं,
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया॥

अर्थ—जैसे कीड़ा, अन्य वस्तु की आसक्ति (मोह-ममता) को छोड़ कर अहर्निश भ्रमर का ध्यान करता हुआ भ्रमर हो जाता है। तद्वत् योगी महापुरुष हरदम परमात्मतत्त्व का ध्यान

करता हुआ, सुदृढ़ परमात्मनिष्ठा संपादन कर स्वयं ध्येय स्वरूप परमात्मा ही होजाता है।

सतीशिरोमणि भगवती माता श्रीसीताजी भी श्रीरामजी के ध्यान के प्रभाव से भयभीत होकर अपनी प्रियसखी त्रिजटा राक्षसी के प्रति कहती हैं—

कीटोऽयंभ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा।
स्यामेवंरघुनन्दनोऽपित्रिजटे!दाम्पत्यसौख्यंगतम्॥

अर्थ—हे त्रिजटे! देखो, मेरे सामने देखते देखते ही यह कीड़ा अत्यन्त निदिध्यासन [ध्यान] के प्रभाव से भ्रमर हो गया है। तद्वत् मैं भी अहर्निश प्राणाधिक परमप्रेमास्पद श्रीरामजी का अतिशय ध्यान करते करते यदि कदाचित् रघुनन्दन श्रीराम हो गयी, तो बड़ा गजब हो जायगा, क्योंकि दाम्पत्य स्त्री-पुरुष का प्रेम व सुख नहीं रहेगा। दो राम हो जायेंगे। हाय!! अब मैं क्या करूँ? हे त्रिजटे! तुम ही कुछ सुन्दर उपाय बतलावो?

श्रीसीता माता का भोलाभाला कर्णमधुर वचनों को सुन कर मन्द मन्द हसती हुई त्रिजटा, सीता माता को धैर्य धारण करानेवाले वचनों को कहने लगी—

शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये! तेनाऽपि योगःकृतः।
सीतासोऽपिभविष्यतीति सरले!तन्नो मतंजानकि!॥

अर्थ—हे मैथिलेन्द्रतनये! इस प्रकार शोक न करो, क्योंकि जैसे आप रात्रिदिन श्रीरामजी का ध्यान करती हैं। तद्वत् श्रीरामजी भी आपका रात्रिदिन ध्यान करते हैं। यदि आप, ध्यान के प्रभाव से सीता मिटकर राम होजावेंगी तो, श्रीराम भी ध्यान के प्रभाव से राम मिट कर सीता होजावेंगे। हे सरले! हे जानकि! घबराने की कोई बात नहीं है। रात्रिदिन श्रीरामजी के ध्यान का, प्रेम से अतिशय अभ्यास कीजिये। श्रीसीताराम की युगल जोड़ी सर्वदा बनी रहेगी। इसप्रकार त्रिजटा का रहस्य पूर्ण वचन को सुन कर भगवती सीता प्रसन्न होकर श्रीराम का निश्चिन्तभाव से सुदृढ़ ध्यान करने लगीं।

किसी भाषा के कविने भी कहा है—

सुनके शब्द कीट भृङ्गी के,
सब तनमन की सुध बिसरावे।
देखहुँ प्रकट ध्यान की महिमा,
सोई कीट भृङ्गी होइ जावे॥

यद्यपि भगवान् विष्णु, सत्त्वगुण के अधिपति होने के कारण शुद्ध शुक्ल वर्णवाले हैं। तथापि तमोगुण के अधिपति श्यामवर्णवाले भगवान् श्रीशङ्कर का हरदम ध्यान करते करते ध्याता श्री विष्णु, श्रीशङ्करमय श्यामवर्ण वाले होगये हैं।

इसीप्रकार भगवान् श्रीशिव भी वैष्णव हैं, अर्थात् विष्णुभक्त एवं विष्णु के उपासक हैं। अत एव श्रीशङ्कर भगवान् रात्रिदिन श्री विष्णु का ध्यान करते रहते हैं। 'शिवस्य हृदये विष्णुः' इत्यादि शास्त्र भी इस बात को कहते हैं।

यद्यपि भगवान् शङ्कर तमोगुण के अधिपति होने के कारण श्यामवर्णवाले हैं, तथापि सत्त्वगुण के अधिपति शुक्लवर्णवाले श्रीविष्णु का ध्यान करते करते ध्याता भगवान् श्रीशङ्कर श्रीविष्णुमय शुक्लवर्णवाले हो गये हैं। अत एव भगवान् शङ्कर को गौरवर्ण कहने वाले 'कर्पूरगौरम्' प्रभृतिशास्त्रवचन, एवं भगवान् विष्णु को श्यामवर्णकहनेवाले 'मेघवर्णम्' प्रभृति शास्त्रवचन चरितार्थ होते हैं।

अत एव देवीभागवत में कहा है—
श्रृणु कान्ते! प्रवक्ष्यामि, यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं, गिरिजावल्लभं हृदि ॥
कदाचिद्देवदेवो मां, ध्यायत्यमितविक्रमः।
शिवस्याहं प्रियः प्राणः, शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति, मिथः संसक्तचेतसोः।

अर्थ—भगवान् श्रीविष्णु लक्ष्मीजी के प्रति कहते हैं—हेकान्ते! मैं निशदिन अपने हृदय में आशुतोष गिरिजावल्लभ देवाधिदेव महेश भगवान् का ध्यान करता हूँ। और देवदेव अमितपराक्रम शङ्कर महादेव, अहर्निश मेरा ध्यान करते रहते हैं। मैं शिव का प्राण हूँ, और शङ्कर मेरे प्राण हैं। अन्योन्यासक्त, परस्परतन्मय हम दोनों में कोई भी भेद नहीं है।

इस प्रकार श्रीसद्गुरु के सप्रामाणिक सयुक्तिक रहस्यपूर्ण वचन को सुनकर श्रद्धालु शिष्य, शिव विष्णु का अभेद निश्चय कर कृतार्थ होगया।

रामेश्वर–नाम–विचार।

जिस समय में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र महाराज ने रावण–विजय की कामना से या भगवती सीतादेवी का प्राप्ति के लिये अथवा मर्यादा रक्षण के लिये, समुद्र तट के ऊपर अपने इष्टदेव भगवान् महादेव का लिङ्ग स्थापन किया, और उस लिङ्ग का नाम 'रामेश्वर' रक्खा। उस समय देवर्षि नारदजी पृथिवी में भ्रमण करते हुए भगवान् श्रीराम के, तथा श्रीराम स्थापित रामेश्वर महादेव के, दर्शन करने की अभिलाषा से समुद्र तटपर आपहुँचे। दर्शन–नमस्कारादि करने के अनन्तर नारदजीने श्रीरामजी से 'रामेश्वर' शब्द का अर्थ पूछा।

भगवान् श्रीरामने अति प्रसन्न होकर नारदजी को 'रामस्य ईश्वरो रामेश्वरः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास करके 'राम का ईश्वर स्वामी–उपास्य श्रीमहादेव हैं' ऐसा रामेश्वर शब्द का अर्थ समझाया। नारदजी प्रसन्न होकर यथेष्ट स्थान के तरफ चल दिये।

किसी समय भ्रमण करते करते नारदजी कैलास जापहुँचे। जहाँ साक्षात् जगत्पूज्य श्रीशङ्कर तथा जगज्जननी पार्वतीजी विराजते थे। परम भक्तिभाव से नमस्कारादि कर के नारदजी ने भगवान् शङ्कर के प्रति 'रामेश्वर' शब्द का अर्थ पूछा। तब कुछ हँस कर भगवान् श्रीशङ्कर ने 'रामः ईश्वरो यस्य सः रामेश्वरः' इस प्रकार बहुव्रीहि समास करके 'राम है ईश्वर स्वामी उपास्य जिन श्रीशङ्कर का, उनका नाम है रामेश्वर' ऐसा रामेश्वर शब्द का अर्थ किया।

एक ही शब्द के परस्पर विरुद्ध दो अर्थों को सुनकर नारदजी के मन में संशय ने आसन लगा लिया। इस संशय को निवारण करनेके लिये नारदजी ब्रह्मलोक गये; और सकल ब्रह्माण्डाधिपति अपने पिता ब्रह्माजीके प्रति 'रामेश्वर' शब्द का अर्थ पूछा। ब्रह्माजीने 'रामश्चासौ ईश्वरश्चेति रामेश्वरः' अर्थात् राम ही ईश्वर (शङ्कर) हैं' ऐसा कर्मधारयसमास करके रामेश्वर शब्द से हरि–हर का अभेद सिद्ध किया।

यद्यपि श्रीशङ्कर और श्रीविष्णु यथार्थ में एक ही हैं, गुण एवं क्रिया के भेद से भिन्न की तरह प्रतीत होते हैं, तथापि आपस में विशुद्ध–प्रेम–भक्ति का नाता होने के कारण एक–दूसरे के वे भक्त व उपासक हैं। अर्थात् श्रीशङ्कर विष्णु को अपना इष्टदेव मानते हैं, और श्रीविष्णु शङ्कर को अपना इष्टदेव मानते हैं; इस प्रकार

समझा कर ब्रह्माजीने नारदजी के संशय का निवारण किया।

अतएव श्रद्धेय माननीय महापुरुषोंने कहा है—

षष्ठीतत्पुरुषो रामो, बहुव्रीहिं महेश्वरः।
रामेश्वरपदे ब्रह्मा, कर्मधारयमब्रवीत् ॥

अर्थ—रामेश्वर पद में श्रीराम, षष्ठीतत्पुरुष समास मानते हैं, श्रीशङ्कर, बहुव्रीहि समास मानते हैं, और श्रीब्रह्माजी, हरि—हर का अभेद बोधक, कर्म धारय समास मानते हैं।

अहा !! धन्य है इस लीलामय भगवान् की अद्‌भुत लीला को, लेकिन साथ ही साथ महान् आश्चर्य का विषय यह है कि—इस प्रकार हरि—हर का सुनिश्चित सप्रामाणिक सयुक्तिक अभेद होने पर भी दुराग्रही मनुष्य इस भगवान् के लीलारहस्य की अवहेलना करके अवनति के भयङ्कर गर्त में आखें फाड़कर गिरते हैं। दयालु भगवान् से हार्दिक प्रार्थना है कि—इन दयनीय एवं शोचनीय दुराग्रही मनुष्यों के हृदय में भगवान् अपनी स्वाभाविक दयादृष्टि से इस असली रहस्य को प्रकटकर इन को सत्पथ में अग्रसर करें। हरिः ॐ तत्सत् नारायणोऽहं नारायणः सर्वम् ॥

जगत्कारण-ईश्वरतत्त्व ।

(ले०—श्री १०८ ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर वासुकी गुफानिवासी ब्रह्मचारीजी के शिष्य कविराज सम्सेर बहादुर नेपाल)

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

प्रश्न—हे भगवन्! वेदान्तसिद्धान्त में जगत् की उत्पत्ति और ईश्वर किस प्रकार माना है?

समाधान—हे जिज्ञासु! वेदान्तसिद्धान्त में ब्रह्म, जगत् का विवर्तोपादान कारण है। सांख्य-शास्त्र और योगशास्त्र प्रकृति जगत् का परिणामी उपादान कारण है।

पञ्चदशी के अद्वैतानन्द प्रकरण में परिणाम का स्वरूप कहा है—

(१)अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता।
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

जैसे दुग्ध, दधिका परिणामी उपादान कारण है, और दुग्ध का दधि परिणाम है। दुग्ध का जमानेवाला पुरुष निमित्त कारण है।

तैसे सांख्यमत में ईश्वर का अनङ्गीकार होनेसे स्वतन्त्र प्रकृति ही जगदाकार होजाती है। जगत् प्रकृति का परिणाम है। जीव अपने अदृष्ट के द्वारा जगत् का निमित्त कारण है। योगमत में जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय का निमित्त कारण ईश्वर है। इसमें 'जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' यह गीतावचन भी प्रमाण है।

वेदान्तसिद्धान्त में विवर्त्तवाद है। अपने आश्रय को यथास्थित रखकर अर्थात् आश्रय को न बिगाड़कर आश्रय में विलक्षण कार्य की प्रतीति होने का नाम विवर्त है। पञ्चदशी के अद्वैतानन्द में कहा है—

अर्थ-(१) एक ही वस्तु में पूर्व अवस्था का त्यागपूर्वक अन्य अवस्था की प्राप्ति का नाम परिणाम है। जैसे दूध का दही, मृत्तिका का घट, सुवर्ण का कुण्डल।

(२)अवस्थान्तरभानन्तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥

जैसे शुक्ति का अज्ञान शुक्ति में रजतरूप होकर, तथा रज्जु का अज्ञान रज्जु में सर्परूप होकर, प्रतीत होता है । शुक्ति, रजत का और रज्जु, सर्प का विवर्त उपादान कारण है। अथवा शुक्ति रज्जु अवच्छिन्न चेतन, विवर्त उपादान कारण है। शुक्ति रज्जु का अज्ञान, परिणामी उपादान कारण है। परन्तु अनिर्वचनीय मिथ्या-रजत और सर्प की उत्पत्ति से प्रथम, या इन की उत्पत्तिकाल में, या इन के नाश होने के पश्चात् तीन काल में भी शुक्ति तथा रज्जु यथास्थित ही रहती है।

तैसे शुद्ध ब्रह्मरूप अधिष्ठान के आश्रय में रहने वाला अज्ञान ही, विचित्र जगदाकार होकर अधिष्ठान ब्रह्म में मिथ्या प्रतीत होता है। जगत्-रूप कार्य का ब्रह्म विवर्त उपादान कारण है। माया, जगत् का परिणामी उपादान कारण है।

सांख्य और वेदान्त मत में कारण से कार्य न्यारा नहीं है। जैसे मृत्तिका से घट, सुवर्ण से कुण्डल, शुक्ति से रजत भिन्न नहीं है। दोनों मत में भेद यह है कि–सांख्य मत में कारण एवं कार्य दोनों सत्य है, और वेदान्तसिद्धान्त में सिर्फ अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है, जगत्रूप कार्य मिथ्या-कल्पित है। शुक्ति में रजत, एवं रज्जु में सर्प की तरह मिथ्या माया का जगत्रूप कार्य ब्रह्मरूप अधिष्ठान में लेश भी विकार को उत्पन्न नहीं कर सकता है, और अधिष्ठान ब्रह्म के अद्वैतपने को भी विगाड़ नहीं सकता है। 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यत इति यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। 'एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति' यह शाङ्कर भाष्य है। जैसे सदोष नेत्रवाले पुरुष को आकाश में दो चन्द्र प्रतीत होते हैं, परन्तु मिथ्या अध्यस्त दो चन्द्र, चन्द्र के वास्तविक एकत्व को विगाड़ नहीं सकते हैं। अत एव ब्रह्म को सर्व शास्त्रों में शुद्ध निर्विकार अखण्ड एकरस अद्वैतरूप से प्रतिपादन किया है। शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म, यद्यपि सृष्टि का कारण नहीं होसकता है, तथापि मायासहित ब्रह्म सृष्टि का कारण हो सकता है। मायासहित ब्रह्म को ही ईश्वर, प्रेरक, कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अन्तर्यामी, नियन्ता शास्त्रों में कहा है। जैसे—

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (मा. श्रु.) इत्यादि।

प्रश्न—हे भगवन्! जगत् का कारण ईश्वर प्रयोजन सहित है, या निष्प्रयोजन है? सप्रयोजन कहें तो जीववत् ईश्वर को अनाप्तकाम कहना चाहिये? यदि ईश्वर निष्प्रयोजन है, तो जैसे उन्मत्त विक्षिप्त पुरुष, निष्फल प्रवृत्ति करता है, तैसे ईश्वर भी प्रयोजन विना सृष्टि को रचेगा तो ईश्वर उन्मत्त पुरुष की तरह विक्षिप्त कहा जावेगा?

समाधान—इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र रीति से यह है कि–ईश्वर आप्तकाम होनेसे निष्प्रयोजन है।

प्रश्न—तब तो प्रयोजन के विना सृष्टि के रचने में प्रवृत्त ईश्वर उन्मत्त कहलावेगा?

---

(२) पूर्व अवस्था का परित्याग न कर के अन्य अवस्था का केवल भान होना विवर्त है। जैसे रज्जु में सर्प का, तथा निराकार निरूप आकाश में कटाहाकारपने का एवं नीलपने का भान।

समाधान—जैसे कोई चक्रवर्ती राजा प्रयोजन के विना शिकार के निमित्त अनेक शस्त्रास्त्र से सन्नद्ध होकर दुर्गमवनादिकों में जाता है, निष्फल श्रम को उठाता है, परन्तु राजा में उन्मत्तपनाकी या विक्षिप्तता की किसी को भी संभावना नहीं है। तद्वत् प्रयोजनरहित होनेपर भी ईश्वर उन्मत्त एवं विक्षिप्त नहीं होसकता है।

प्रश्न—दृष्टान्त में राजा को शिकार से उत्तम मृगों के माँस का लाभादि ही प्रयोजन है ?

समाधान—न मिली हुई वस्तु को प्राप्त करने के लिये यत्न करने का नाम प्रयोजन है। सम्राट् महाराज को भूलोक के सकल भोगों के यावत् साधन की प्राप्ति हरवक्त बनी रहती है। अतः सम्राट् को माँस लाभादि प्रयोजन नहीं हो सकता। तैसे देव असुर मनुष्यलोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि–जो ईश्वर को अप्राप्त होवे और सृष्टि रचने से मिल सके। अतः अपने प्रयोजन के लिये ईश्वर की जगत् के निर्माण करने में प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रश्न—राजमंदिरों में अप्राप्त और वन में उत्पन्न हुई वस्तुओं के दर्शन जन्य विनोद ही महाराज का प्रयोजन है ?

समाधान—यह बात तो प्रभु को भी तुल्य ही है, क्योंकि ईश्वरने विनोदार्थ सृष्टि बनाई है, यह बात कहना अतिसुलभ है, और शास्त्र तथा आस्तिक मान्य शिष्ट महापुरुषों की संमति भी है। जैसे—

क्रीडार्थं सृष्टिरित्यन्ये, भोगार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽय–माप्तकामस्य का स्पृहा॥

(माण्डूक्य गौड़पाद कारिका)

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र० सू० २-१-३३)

जैसे लोक में राजा की प्रयोजन विना ही केवल लीला रूप अनेक प्रकार की प्रवृत्ति होती है, और जैसे प्राणों का व्यापार स्वाभाविक है। तैसे ही भगवान् की भी विचित्र कार्य रचना में प्रवृत्ति केवल लीला मात्र ही है, फल अभिलाषा से नहीं। किसी प्रकार राजा की लीला में यद्यपि फल (प्रयोजन) कल्पना होसकती है, तथापि नित्यतृप्त आप्तकाम भगवान् की सृष्टि की रचना पालन आदि सिर्फ लीलामात्र ही है। इस विषय में उक्त श्रुति एवं सूत्रवचन प्रमाण है।(१)

हरिः ॐ शुभमस्तु सर्वेषाम्।

(१) वस्तुतः यह परिदृश्यमान नामरूपात्मक सृष्टि पारमार्थिक सत्य नहीं है, किन्तु अनादि अनिर्वचनीय मायाशक्ति के अद्भुत प्रभाव से कल्पित प्रतीत हो रही है। यदि सृष्टि पारमार्थिक होती, तो ईश्वर को सृष्टि रचना में प्रयोजन की अपेक्षा बनती। किन्तु ईश्वराश्रित मायाशक्ति, प्रयोजन की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही कार्यरचना में प्रवृत्त होजाती है। जैसे निद्रादिरूपा माया; स्वप्न, द्विचन्द्र, अलातचक्र, आदि विभ्रमों की, और विभ्रम के कार्य, विस्मय भय कम्प आदि की उत्पत्ति में लेश भी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करती है। तद्वत् मायाविशिष्ट ईश्वर सर्वथा प्रयोजनरहित होकर, जीवगत भ्रान्तिजन्य संस्कारों को निमित्त बनाकर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है। अत एव **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** **'जीवभ्रान्त्या परं ब्रह्म जगद्बीजमजूघुषत्'** इत्यादि शास्त्रवचन भी चरितार्थ होते हैं। **'सम्पादक'**

हम यहाँ क्यों आये हैं ?

(लेखक—ब्रह्मनिष्ठ परमहंस स्वामीजी श्री भोलेबाबाजी महाराज)

ऊपर का प्रश्न सुनकर कई मित्र एक बाग में जाकर इस प्रकार विचारने लगे।

गन्धीचन्द—मित्रो ! मेरी समझ में तो यह आता है कि—केसर मिलाकर चन्दन का तिलक लगाया करें, चम्पा, चमेली, गुलाब, जुही, गेंदा, आदि सुगन्धित पुष्पों की माला पहिना करें, हिना, केवड़ा आदि का इतर वस्त्रों में मलकर बाजार में घूमा करें। इन्हीं पुष्पों और इतरोंको पलंग के ऊपर रख कर सोया करें ; इस लिये हम यहाँ आये हैं। क्योंकि—ऐसा करने से दिल और दिमाग दोनों ताजे बने रहते हैं। दिल और दिमाग येही दोनों शरीर में मुख्य हैं, इन दोनों के ताजे रहने में ही सुख है, नहीं तो जीवन व्यर्थ ही है।

भोगीराम—भाइयो ! मैंने तो ऐसा निश्चय किया है कि—भोजन ही मुख्य है, भोजन विना दिल अथवा दिमाग कोई भी स्वस्थ नहीं रह सक्ता है ! सवेरे ही उठ कर छटांक भर दाल मोठ, दो मोहन की मठरी, अथवा बिस्कुटों का नास्ता (कलेवा) किया करें; दश बजे रोटी, दाल, साग, अचार, मुरब्बा, चटनी आदिका भोजन किया करें। तीसरे पहर जाडे के दिनों में बादाम, पिस्ते आदि मेवा का भोग लगाया करें, और गरमी के दिनों में केवड़ा आदि डालकर ओलों की ठण्डाई पिया करे। रात्रि को दश बजे छुवारे डालकर औटाया हुआ गाय अथवा भैंस का दूध पिया करें, यदि किसी समय भूख मालूम हो तो और भी जो जी चाहे भोजन कर लिया करें, इस लिये भोजन करने के लिये ही हम यहाँ आये हैं; ऐसा मैंने निश्चय किया है।

रूपचन्द—हे सज्जनो ! मैं तो यह समझता हूँ कि—दुनियां की सैर करना हो मुख्य है—बड़े बड़े शहेरों के अजायब खाने देखें, भारतवर्ष के सब शहेरों की सैर करें, जहाज में बैठ कर यूरोप, अमेरिका आदि जाकर वहां के स्त्री-पुरुषों के रूप रङ्ग को देखें, ताजमहल आदि बढ़िया बढ़िया इमारतों को देखें, मेला तमाशा तो कोई छोड़ें ही नहीं, इसीलिये हम यहां आये हैं।

वसनानन्द—हे महाशयो ! वस्त्रों के विना यह शरीर शोभा नहीं देता, वस्त्रों से यह अशोभन शरीर भी शोभन होजाता है, जो लोग वस्त्र नहीं पहिनते, नंगे रहते हैं वे जंगली समझे जाते हैं, इसलिये जाड़ों में शाल दुशाले पहिना करे, बढ़िया सूट बनवावें, गरमियों में महीन वस्त्र पहिनें, बालों में तेल डालकर काढ़कर उमदा पोशाक पहिन कर बड़ी सजधज से बाजार में निकलें जिस को देखकर सब की दृष्टि अपने ऊपर ही पड़े, जहाँ जाय वहीं नाम होजाय कि—यह वस्त्रों का प्रेमी किसी राजा महाराज का पुत्र है, इसीलिये हम यहाँ आये हैं कि—उमदा उमदा वस्त्र पहिनें, और मोलायम गद्दों पर शयन करें।

गीताराम—अजी ! जिसने यहाँ आकर गाना नहीं गाया, और नहीं सुना उसका यहाँ जन्म लेना ही व्यर्थ है। सब बाजों का बजाना सीखें, ताल को समझें, स्वर आदि को पहिचानें, छः राग और छत्तीस रागनियों का मर्म समझें,

स्वरपर पूर्ण ध्यान दें, संगीत विद्या का भली प्रकार अभ्यास करें। देखो!! तानसेन आदि का नाम अबतक प्रसिद्ध है, वे जब गाते बजाते थे तब पत्थर भी पिघिल जाते थे। गाना गाने और बजाने को ही हम यहाँ आये हैं, यदि गाना नहीं आता हो तो फोनोग्राफ का गाना ही सुना करें।

सन्तानरमण—हे मित्रो! मैं तो यह कहता हूँ, और सत्य ही कहता हूँ कि—हम यहाँ सन्तान उत्पन्न करने को आये हैं। आप सबको अनुभव होगा कि—सन्तानको देखकर मन प्रसन्न होजाता है। और इतना प्रसन्न होता है कि—उसकी कोई उपमा ही नहीं है। सन्तान के सुखको सन्तानवाले ही जानते हैं। विरक्त संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं जान सक्ते। मैं जब किसी बड़ी बूढीको प्रणाम करता था तो वह मुझे आशीर्वाद दिया करतीथी कि—बेटा तेरे पुत्र हो! उस समय मैं उसकी बातको नहीं समझता था, अब जबसे मेरे एक पुत्र हो गया है, तबसे मैं उसकी बातको समझने लगा हूँ। बात यह है कि—पुत्रको देखते ही मन प्रफुल्लित होजाता है, और कभी छातीसे लगा लेता हूँ, तबतो ऐसा आनन्द होता है कि—वैसा आनन्द समाधिस्थ को भी नहीं होता होगा। समाधिस्थको सुनते हैं कि—समाधि में बहुत ही आनन्द होता है, परन्तु यह तो सुना ही सुना है, देखा नहीं है। सम्भव है कि—प्रौढोक्ति हो, पुत्रको छातीसे लगाने में जो सुख होता है, उसका तो मैंने अत्यन्त अनुभव किया है, इससे कहता हूँ कि—समाधिस्थ से भी अधिक सुख पुत्रको प्यार करने और छाती से लगाने में होता है। इसलिये हम यहां सन्तान उत्पन्न करनेको आये हैं, ऐसा मेरा निश्चित मत है।

आरोग्यचन्द—भ्राताओ! सन्तानरमणका कथन कुछ कुछ ठीक है, परन्तु लोकमें कहावत है कि—'पहिला सुख निरोगी काया' इसलिये शरीर को स्वस्थ रखना हमारा मुख्य कर्तव्य है। युक्त आहार विहार करनेसे शरीर स्वस्थ हो, तभी खाना पीना, गाना, नाचना, मेले तमाशे देखना, वढ़िया पोशाक पहिनना, आदि सब अच्छा लगता है, नहीं तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता, इसलिये पांचो इन्द्रियों के विषयभोगते हुये भी शरीर के स्वस्थ रहनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। शरीरको स्वस्थ रखने के लिये ही हम यहां आये हैं, ऐसा मैंने निश्चय किया है।

कर्मरात—हे विद्वानो! पांच इन्द्रियों के भोग और आरोग्यता आदि जो कुछ यहां हमको प्राप्त है। और प्राप्त होता है। वह सब पूर्वके किये हुये कर्मोंसे प्राप्त होता है। आगे जो कुछ हमको प्राप्त होगा, वह अब के किये हुए कर्मोंका फल होगा। मात्र इस पृथ्वी के भोग ही भोग नहीं हैं, किन्तु देवलोक आदिमें यहां से बढ़कर दिव्य भोग हैं, वे भोग दत्त, पूर्त, इष्ट, आदि कर्म करने से प्राप्त होते हैं। ऐसा हमने वेदवेत्ताओं से सुना है, इसलिये हमको यहां ऐसे कर्म करने चाहियें कि—परलोक में हमको देवताओंके दिव्यभोगोंकी प्राप्ति हो। और वहांसे लौटकर हम सेठ साहूकार, राजा आदिकों में जन्म लेकर पूर्व से भी अधिक राजसूयादि यज्ञ करें, और पूर्वसे भी अधिक दिव्य भोगों को भोगें, यह भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। अन्य सब देश और लोक तो भोगभूमि हैं, इसलिये हम यहां कर्मकरने के लिये आये हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

ब्रह्मरात—हे श्रेयाभिलाषियो ! जैसा संग वैसा रङ्ग। आपने संसारी, स्त्रीलम्पट, कामके किङ्करोंका संग किया है, इस लिये आपकी बुद्धि भी वैसी ही हो गयी हैं, थोड़े विचारसे काम लो, ये पांचों इन्द्रियों के भोगतो नरकमें, यानी कूकर, शूकर योनियोंमें भी प्राप्त हैं, जिनकी आप कामना करते हैं, और कहते हैं कि—उनके भोगने के लिये हम यहाँ आये हैं। यह आपका कथन मेरी समज में नहीं आया, इस क्षणभंगुर देहसे आप कितने दिन भोग भोग सक्ते हैं, आप भोग भोगते ही रहजायेंगें, तृप्ति तो होगी नहीं, और काल भगवान् अचानक ही आकर आपका गला घोंट देंगे। भ्रमर के समान गन्धके लोभी बनकर अपनी नाक को गन्दी करनेसे कुछ लाभ नहीं होगा। यदि गन्ध के प्रेमी हैं, तो आप भगवान् के चरणकमलकी मकरन्द सूंघा कीजिये, उसको सूंघनेसे आप इतने तृप्त होजायेंगे कि—समस्त विषय आपको फीके लगने लगेंगे, और आप परमानन्द में मग्न रहा करेंगे, मछली के समान यदि आप भोजन में प्रीति करते रहे, तो एक दिन मुखफाड़कर मरजांयगे, भोजन से तृप्ति नहीं होगी, भोजनरूप पृथिवी आपको खाजायगी। यदि आपकी भोजनमें प्रीति है, तो वैराग्यरूप मिष्टान्न का भोजन किया कीजिये। ऐसा करनेसे आपको भगवान् की भक्तिकी भूख बढ़ेगी. भगवद्भक्तिका सेवन करने से आप ऐसे तृप्त और सन्तुष्ट हो जायेंगे कि—इन्द्रकी पदवी को भी तुच्छ समझने लगेंगे। यदि आप रूप देखने के प्रेमी हैं, तो पतंग के समान अपने प्राण मत दीजिये; किन्तु जिन अरूपी भगवान् के ये सब रूप हैं, उन्हीं भगवान् का अपने हृदय में दर्शन कीजिये। उनका दर्शन करते ही आप सूर्य से भी अधिक चमकने लगेंगे, और ऐसे चमकेंगे कि—सर्वत्र, सर्वदा चमकते हो रहेंगे, आपकी ज्योति कभी फीकी नहीं पड़ेगी। यदि आप वस्त्रों के प्रेमी हैं तो मयूर के समान रंगे विरंगे वस्त्र पहिनकर छैलछबीलेचिकने न बनिये, क्योंकि वृद्धावस्था आते ही आपकी सूरत ऐसी बिगड़ जायगी कि—चाहे जितने सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहिनने पर भी आपकी कुरूपता न जायगी। ऐसे वस्त्र पहिननेसे कोइ लाभ न होगा, उलटी हानि ही होगी, वस्त्र पाहनना हो तो ऐसा जामा पहिनिये कि—जो कभी फटे ही नहीं। वह वस्त्र कौनसा है—यदि पूछते हो तो सुनिये ? वह वस्त्र अद्वैतता है, जिसको पहिनकर मनुष्य का बदन इतना फूल जाता है कि—वह दशों दिशाओं में भरजाता है, और उनसे भी आगे निकल जाता है, और गीता के 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि श्लोकों का साक्षात् अनुभव करता है। मृगके समान गान के सुनने के प्रेमी बनकर यमराजरूप व्याधे के वशीभूत न हूजिये, किन्तु सच्छास्त्र और ईश्वरावतारों की कथाओं को प्रेमसे सुना कीजिये। उनके सुननेसे यह समस्त दृश्यरूप संसार गदहे के सींगोंके समान भाग जायगा। एक तुमही शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निर्मल, केवल सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म शेष रह जाओगे, फिर तुम्हें न शोक होगा, न भय होगा, न मोह होगा; और न चिन्ता होगी, किन्तु तुम निःशोक, निर्भय, निर्मोह निश्चिन्त होजाओगे। जबतक देह है, तबतक जगतरूप नाटक का तमाशा देखोगे; और देहके अन्तमें अजर, अमर, अजन्मे होजाओगे।

हे शिष्टो ! पुत्रकी प्राप्ति से भी आजतक न कोई सुखी हुआ है, और न होगा। कुपुत्र तो

प्रत्यक्ष माता पिता के दुःख का कारण होता ही है। सुपुत्र से भी कोई सर्वदा सर्वथा सुखी नहीं हो सक्ता; क्योंकि सुपुत्र से भी एकदिन वियोग अवश्य होता है, क्योंकि सबका देह नाशवान् है, कभी कभी तो अपने से पहिले ही पुत्र चल देता है, उसके मरजाने से महान् दुःख होता है, यदि दैवयोग से अपने जीते जी पुत्रका वियोग न हुआ तो भी अन्तमें देहत्यागने पर तो पुत्र से वियोग होता ही है; पुत्रासक्त पुरुषको मरते समय महान् दुःख होता है, इस लिये पुत्र सुखका कारण नहीं है, पुत्र उत्पन्न करने के लिये हम यहाँ नहीं आये हैं। यदि पुत्र उत्पन्न करने के लिये ही हमारा यहाँ आना होता तब तो पशु पक्षी आदि चाहे जिस योनि में आकर भी हम पुत्रउत्पन्न कर सक्ते थे।

हे सुजनो! आरोग्य रहने के लिये भी हम यहाँ नहीं आये हैं, क्योंकि कोई भी प्राणी सर्वदा आरोग्य रह नहीं सक्ता। इस शरीर के साथ काना होना, अन्धा होना, बहिरा होना बवासीर, अतीसार, अजीर्णता, पेट में दर्द होना, कानमें दर्द होना, फोड़ा, फुंसी आदि अनेक रोग लगे हुये हैं, जिनको कोई सर्वथा निवारण नहीं कर सक्ता; मानलिया कि—कोई भाग्यवान् सर्वदा निरोगी भी हो, परन्तु भूख प्यासको तो कोई निवारण ही नहीं करसक्ता, ये दो रोग तो सर्वदा सबको सताते ही रहते हैं, मान लीजिये कि—भूखप्यास भी कोई रोग न सही, तो भी बुढ़ापे और मरणका भय तो प्रत्येक को लगाही रहता है, जहां मरणका भय हो, वहां कोई भी कैसे सुखी रहसक्ता है ? नहीं रह सक्ता। जिस किसी को फांसी का हुकुम हो गया है, वह मनुष्य किसीप्रकार सुखी नहीं होसक्ता। बालक के जन्मते ही यमराज घरमें आजाते हैं, यानी जीवके जन्मते ही फांसी का शासन होजाता है, फिरभी जीव फांसी को भूल जाता है, और विषयभोगों में आसक्त होजाता है, यह महान् आश्चर्य की बात है।

हे सूक्ष्मदर्शियो! जैसे इसलोकमें शरीर को कितना ही पालनकरो, तो भी एकदिन बूढ़ा अवश्य होजाता है और अन्त में छूट भी जाता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक का शरीर भी स्थायी नहीं है, पुण्य क्षीण होने पर वहांसे परवश होकर नीचे गिरना पड़ता है, और वहां के भोगों में भी यहाँ के भोगों से कुछ विशेषता नहीं है, जैसे हम को अपने स्त्री पुत्र प्यारे होते है, और जैसे पशु पक्षियोंको अपने स्त्री पुत्र प्रिय होते हैं, इसी प्रकार देवताओंको भी अपने स्त्री पुत्र प्रिय लगते हैं। विद्वानों का वचन है कि—जैसे कुत्ते को कुतिया प्यारी होती है, इसी प्रकार इन्द्रको इन्द्राणी प्यारी लगती है, इसीलिये स्वर्ग के और यहां के भोगों में कुछ भी विशेषता नहीं है। देवताओंकी आयु अधिक होती है, और मनुष्योंकी आयु थोड़ी होती है, इतनी ही विशेषता है, परन्तु जैसे गरीब मनुष्य को गरीबी इतना दुःख नहीं देती, जितनी कि—उस मनुष्य को दुःख देती है जो कि—पूर्व में अमीर था। इसीप्रकार मनुष्य को मनुष्य के भोग छूट जाने पर इतना दुःख नहीं होता जितना कि—देवताओंको देवताओं के दिव्य भोग छूट जानेसे दुःख होताहै। इस लिये जैसे स्वर्ग में अधिक सुख है वैसे ही उसमें अधिक दुःख भी है, जो जितना ऊँचा चढता है, उतना ही नीचे गिरता भी है इसलिये स्वर्ग से गिरने में अधिक दुःख है, और गिरना तो अवश्य पड़ता ही है, इसलिये दिव्य

भोग भोगने के लिये भी कर्म करने को हम यहाँ नहीं आये हैं।

हे सुहृदो ! यद्यपि यह नरशरीर नाशवान् और क्षणभंगुर है फिर भी इससे अक्षय सुखस्वरूप नित्य ईश्वरकी प्राप्ति होसक्ती है, इसलिये हम यहां ईश्वरको प्राप्त करने को ही आये हैं यद्यपि सुखरूप ईश्वर सबका आत्मा, यानी स्वरूप होने से सबको प्राप्त ही है, परन्तु देह के अभिमान से उसको ढांक रक्खा है। यदि देहाभिमान दूर होजाय, तो सुखरूप ईश्वर हमको हमारे हृदय में ही मिलजाय, फिर सर्वत्र दिखाई देने लगे। देहाभिमान दूर होनेका उपाय यह है कि—किसी प्राणी से वैर मत करो, सबको अपने समान ही प्यार करो। व्यवहार जितना कम हो सके उतना कम करो, । स्त्रीलम्पट विषयासक्त पुरुषोंका संग मत करो। सन्त महात्माओंका संग करो। ईश्वरातारोंकी कथाओंको पढ़ो। उसीके अर्थका विचार करो। तन से मनसे सर्वदा शुद्ध रहो। निष्कपट व्यवहार करो। इन्द्रियोंको और मनको वश में रक्खो। हानि लाभ में समान रहो। सुखी पुरुषोंको देखकर ईर्षा मत करो। दुःखी पुरुषों पर करुणा किया करो। पुण्य करने वाले को देखकर प्रसन्न हुआ करो। पापियों की उपेक्षा किया करो, यानी उनके दोषों को मत देखा करो। अपने आत्मतत्त्वका हमेशा विचार किया करो मोक्षशास्त्रों का पठन किया करो। साधुओंके पास बैठने से ये सब गुण स्वभावसे ही आ जाते हैं। इसलिये उनके साथ ही यथासंभव बैठा करो, ऐसा करने से तुम्हारा देहाभिमान दुर होजायगा, और तुम ईश्वरका अपने स्वरूपसे ही साक्षात्कार करोगे, यानी ईश्वरको अपने से भिन्न नहीं समजोगे, और ईश्वर ही होजाओगे। क्योंकि जो जिसको भजता हैं, वह वही होजाता है। सच कहा है—

भजता कीड़ा भ्रमरको, भ्रमर आपहो जाय।
भजता है जो ईशको, ईश होय सुखपाय॥
ईश होय सुख पाय, ईश निशदिन जो ध्यावे।
अजर अमर होगया, लौट ना जग में आवे॥
तजे ईशको जीव, जीव को ईश न तजता।
भोला! तो भी ईश, मूढ नर नाहीं भजता॥

सब मित्र ब्रह्मरातकी बात सुनकर साधु साधु करते हुये, घर चले गये, और ईश्वर भजन में तत्पर हो कर सुखी हुये। इत्यतिशोभनम्।

सब से मिल्यो है, और सब से अकेला है।

आप ही खिलौना, आप बनि रह्यो खेलरूप, अजब (१) खिलारी अपने में आप खेला है।
आप ही अज्ञान रूप, ज्ञान बनि आयो आप, करत विवेक आप, बन्यो गुरु चेला ह॥
आप ही मचावे रंग (२) कर कर सतसंग, आप ही मिलत आप, बन जग मेला है।
'निर्भय' कहत मेरो आतमा अखण्डरूप, सब से मिल्यो है; और सब से अकेला है॥

जाके जानने से सब कुछ जान सकिये।

विषयी को साथ तजि, नित हरनाम भजि; आवत न कोई जहाँ ऐसो धाम तकिये।
भोजन बसन (१) जैसो मिले तैसो भोगलेहू, आठोयाम अपने में आप को ही लखिये॥
छोड़ के कुसंग रागद्वेष को मिटाय कर, मूरख की बात सुनि नाहक न बकिये।
'निर्भय' कहत मेरो आतमा अखण्डरूप, जाके जानने से सब कुछ जान सकिये॥

---

(१) अद्भुत, (२) हर्ष. (३) वस्त्र.

सारासार-विचार।

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य ब्रह्मनिष्ठ स्वामीजीश्रीनृसिंहगिरिजी महाराज मण्डलेश्वर)

(गताङ्क से आगे)

प्रश्न—हे भगवन्! सारभूत आत्मा के यथार्थ अनुभव का उपाय क्या है?

उत्तर—विवेक उपाय है।

प्रश्न—विवेक कैसे होवे?

उत्तर—'अहं' शब्द के विषय का अन्वेषण करने से विवेक होता है। 'अहं मनुष्यः' 'अहं ब्राह्मणः' अर्थात् मैं मनुष्य हूँ मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि व्यवहार में यह जीव 'मैं' 'मैं' करता है। अज्ञानी मनुष्य 'मैं' शब्द के असली अर्थ को नहीं जानता है। भ्रम से 'मैं' शब्द का अर्थ देह इन्द्रिय आदि अनात्मवर्ग को मान लेता है। यही अविवेक है।

इस शरीर इन्द्रियादि समुदाय में वीस तत्त्व हैं। एक यह प्रत्यक्ष स्थूल शरीर; श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण, ये पांच ज्ञानेन्द्रिय; वाक्, पाणी, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय; प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, ये पांच प्राण; और मन, बुद्धि ये दो अन्तःकरण; सब मिलकर सतरहतत्त्ववाला सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। कारण शरीर—अज्ञान उनीसवाँ तत्त्व है, और चेतन आत्मा वीसवाँ तत्त्व है। इस बीस तत्त्व के समुदाय में वास्तविक अहं शब्द का अर्थ एक मात्र चेतन आत्मा ही है, शरीरादि—तत्त्व अहं शब्द का अर्थ नहीं हैं। क्योंकि 'मैं शरीर हूँ' 'मैं इन्द्रिय हूँ' इत्यादि व्यवहार कोई भी नहीं करते हैं, किन्तु 'मेरा शरीर है' मेरी इन्द्रियाँ हैं' इत्यादि व्यवहार करते हैं, इस से सिद्ध होता है कि—शरीरादि अहं शब्द का वाच्य नहीं है। जैसे 'मेरा मकान' ऐसा कहनेवाला पुरुष मकान रूप नहीं होता, किन्तु मकान से भिन्न ही सिद्ध होता है, तद्वत् शरीरादिओं को मेरा कहनेवाला आत्मा, शरीरादिओं से भिन्न सिद्ध होता है। इसीप्रकार मन, बुद्धि, अज्ञान, के विषय में भी समझ लेना चाहिये; अर्थात् स्थूल शरीर से लेकर अज्ञान पर्यन्त उन्नीस तत्त्व, अहं पदार्थ आत्मा नहीं है, किन्तु इन सब का साक्षी, अधिष्ठान, सत्तास्फूर्तिप्रद, आनन्दरूप चेतन आत्मा ही अहं शब्द का अर्थ है; क्योंकि हैं, प्रत्येक मनुष्य 'मैं चेतन हूँ' ऐसा व्यवहार करते 'मेरा चेतन है' ऐसा व्यवहार कोई भी नहीं करते हैं।

जैसे इस एक शरीर में स्थूलादि सर्व उपाधियों से चेतन आत्मा भिन्न है, वैसे ही चीटी से आदि लेकर समष्टि विराट् पर्यन्त सर्व शरीरों में सर्वउपाधियों से चेतन आत्मा भिन्न है, और वह एक है। भगवती श्रुति भी कहती है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

अर्थ—सर्वशरीरो में चेतन देव एक है, और वह अज्ञान तत्कार्य से छिपा हुआ है, सर्व व्यापी एवं सर्वभूतों का अन्तरात्मा है।

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

अर्थ—जैसे अनेक भाण्ड में स्थित जल रूप

उपाधि के सम्बन्ध से बिम्ब रूप से एकरूप हुआ ही चन्द्रमा प्रतिबिम्बरूप से अनेक की तरह प्रतीयमान होता है। तद्वत् प्रत्येक भूतों में एकरूप से वर्तमान हुआ आत्मा उपाधि के सम्बन्ध से अनेक रूप से प्रतीयमान होता है। भगवान् भी गीता में कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!।
(१३–२)

अर्थ—हे भारत! अर्जुन! सर्वशरीरों में रहनेवाला क्षेत्रज्ञ चेतन आत्मा को मेरा ही स्वरूप जान, अर्थात् आत्मा और मुझ भगवान् में लेश भी भेद नहीं है, ऐसा निश्चय करो।

अत एव '**अयमात्मा ब्रह्म**' यह आथर्वणी महावाक्यश्रुति आत्मा को ही ब्रह्म रूप से स्पष्ट प्रतिपादन करती है।

देहादि यावत् असार उपाधियों की सर्वथा उपेक्षा कर 'सर्वाभिन्न सर्वाधार सर्वसार सच्चिदानन्द अद्वैत ब्रह्म चिन्मात्र ही मैं हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय पूर्वक स्वस्वरूप की ध्रुवास्मृति को प्राप्त करना ही सारवस्तु का ग्रहण है।

प्रश्न—हे भगवन्! असाररूप देहादि उपाधियों की उपेक्षा कैसे होगी?

उत्तर—श्रुति स्मृति आदि शास्त्र वचनों से, एवं युक्ति और विद्वान् महात्माओं के अनुभव से, "देहादि रूप समस्त कार्यकरण जगत् स्वप्न की तरह मिथ्या, तुच्छ, दृष्टनष्ट, एवं क्षणभङ्गुर, है" इसी प्रकार दृढ़ निश्चय करने से संसाररूप उपाधि की उपेक्षा हो सकती है। श्रुति कहती है—

'**अतोऽन्यदार्तम्**' '**तदेतज्जडं मोहात्मकम्**' '**यदल्पं तन्मर्त्यम्**' अर्थात् इस परमात्मा से भिन्न समस्त जगत् मिथ्या है। यह जगत् जड़ है एवं मोहरूप माया का कार्य है। जो अल्प—परिछिन्न होता है, वह क्षणभङ्गुर मिथ्या होता है।

जैसे ऐन्द्रजालिक (मायिक) पुरुष की माया से बना हुआ कार्य मिथ्या ही देखने में आता है, तद्वत् यह जगत् भी माया का कार्य होने से मिथ्या ही है।

स्मृति भी कहती है—

यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः।
तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः॥

अर्थ—जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च स्वप्नद्रष्टा रूप मुझ चेतन में निद्रारूप माया से कल्पित है, तद्वत् यह जाग्रत् प्रपञ्च भी जाग्रत् का द्रष्टा रूप मुझ चेतन में माया से कल्पित है।

अनुमानरूप युक्ति से भी प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध होता है। जैसे—

प्रपञ्चो मिथ्या भवितुमर्हति, दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, आद्यन्तवत्त्वात्, रज्जुसर्पवत्' जैसे रस्सी में दृश्य, जड़, परिछिन्न एवं आदि अन्तवाला सर्प, मिथ्या है, तद्वत् यह सम्पूर्ण जगत्भी दृश्य होने से, जड़ होने से, परि-छिन्न होने से एवं आदिअन्तवाला होने से मिथ्या ही है।

प्रश्न—हे भगवन्! मिथ्या द्वैत जगत् की प्रतीति होने पर, अद्वैतब्रह्मतत्त्व का निश्चय कैसे होगा?

उत्तर—जैसे रस्सी में कल्पितसर्प की रस्सी से भिन्न सत्ता नहीं है, क्योंकि—कल्पितपदार्थ की सत्ता अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त नहीं होती है। तद्वत् कल्पित द्वैत जगत् की सत्ता, अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त नहीं है, अत एव द्वैत जगत् की मिथ्या प्रतीति होने पर भी

अद्वैतब्रह्मात्मतत्त्व का निश्चय होसकता है ।

आचार्य्य भगवान् श्रीशङ्करस्वामीजीने कहा है

यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपम्,
नान्यत्ततो भाति नचास्ति किञ्चित् ।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला,
ग्राह्यं गृहीतेति मृषैव कल्पना ॥

अर्थ—जो कुछ है, एवं जो कुछ प्रतीयमान हो रहा है, वह सब कुछ आत्मस्वरूप ही है। वस्तुतः आत्मा से भिन्न न तो कुछ है, एवं न कुछ प्रतीत होता है। स्वरूप से ज्ञानरूप चेतन आत्मा ही सर्वत्र सर्वदा सर्वथा भासता है। घटादि पदार्थ ग्राह्य हैं, एवं पुरुष गृहीता है, इत्यादि सब कल्पना मिथ्या ही है।

इस प्रकार असार रूप मिथ्या जगत् की नितान्त उपेक्षा कर, एक अद्वय सद्रुप आत्म तत्त्व का निरन्तर दृढ़ अनुसंधान करने से, आत्मतत्त्व का साक्षात्कार, परमानन्द की प्राप्ति एवं आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होती है।

वेद में कहा है—

'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'तत्र को मोह कः शोक एकत्व-मनुपश्यतः' अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म स्वरूप ही होता है, अधिकारी मनुष्य आनन्द स्वरूप ब्रह्म को स्वस्वरूप से जानता भया। ज्ञान प्राप्त होने पर, ब्रह्मात्मदर्शी विद्वान् को मोह एवं शोक कैसे हो सकता है।

नित्य निरतिशय परमानन्द की प्राप्ति का हेतु एकमात्र सारभूत आत्मा का ज्ञान ही है। आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही यह देव दुर्लभ मनुष्यजन्म, सफल माना जाता है। आत्मा को जाननेवाला मनुष्य ही, यावत् मनुष्यों के अन्दर बुद्धिमान् है। भगवान् ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थ—क्षणपरिणामी संसार में जो मनुष्य निष्क्रिय सर्वाधिष्ठान ब्रह्म को देखता है, और निष्क्रिय ब्रह्म में संसार को कल्पित देखता है, वह पुरुष मनुष्यों के मध्य में बुद्धिमान् है, योगी है, और निखिल कर्मों का कर्ता है।

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' 'ज्ञानीत्वात्मैवमेमतम्' इत्यादि वचनों से भगवान् श्रीकृष्ण, आत्मज्ञान एवं आत्मज्ञानी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं, और **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'** इत्यादि वचनों से आत्मज्ञान का विमल प्रभाव को स्पष्ट बतला रहे हैं। अतः ऐसे पवित्र आत्मज्ञान का सम्पादन करना मनुष्य जन्म का मुख्य उद्देश्य है।

इति शिवोऽहं शिवः सर्वम्

---

[1]लख आतमरूप प्रकाशक तेरा ।

जो जगमें सब को मन प्रेरत, बुद्धि के बीच दियो जिन डेरा ।
मारत पालत हैं उपजावत, दूर से दूर है [2]नेरे से नेरा ॥
बाहर की बिसराय कें बात को, नैनन मूँदि [3]मिटाय अंधेरा ।
'निर्भय' तत्त्व विचारि कहे, लख आतम रूप प्रकाशक तेरा ॥

(१) निश्चय से जान (२) समीप से भी समीप (३) अज्ञानरूपी अंधकार को नाश कर

मदन–दहन तथा शिवपार्वती विवाह ।

[लेखकः—पण्डित श्रीनन्दकिशोर श्रोत्रिय गौड़]

(गताङ्कसे आगे)

शंकर ने यह वरदान दिया, तेरा पति अब अनंग होगा ।
बिन शरीर का रहे जगत में, सब को वह व्यापक होगा ॥
पाठक ! अब सुनो हाल चित दे, जिस लिये मदन का दहन हुआ ।
अब आती है शुभमय वह घड़ी, जिस लिये उमा ने योग किया ॥
शुभ घड़ी सुदिन गिरिराजा ने, शुभ लग्नपत्र को लिखवाया ।
अति विनम्र आदर समेत, पत्री दे ऋषिन को पठवाया ॥
चतुरानन को पत्री देदी, फिर सब देवों को सुना दिया ।
मन में है अमित उछाह महा, शुभ मंगलमय आदेश दिया ॥
सब सुर समूह सानन्द शीघ्र, अपने विमान वाहन लाये ।
होते हैं सुन्दर सुभग शकुन, मन में उछाह हैं अति लाये ॥
शंकर का बना श्रृंगार कैसा, जटा जूट का मुकुट धरा ।
सापों का मौर धरा सिर पर, कुंडल पर करिया गोर जरा ॥
कुंडल अरु कंकण सापों के, बहु तन में शोभा पाय रहे ।
सुन्दर बाघम्बर वस्त्र बना, जिस में भुजंग लपटाय रहे ॥
मस्तक पर इन्दु प्रकाशित है, अरु शीशपे गंगा धरी हुई ।
शुभ त्रिनेत्र शोभा पाय रहे, भस्मी शरीर पर रमी हुई ॥
उपवीत तीन सर्पों का है, अरु कंठ में गरल सुहाता है ।
मुण्डों की माला पहिरें हैं, शुभ त्रिशूलकर में लसता है ॥
नन्दी असवारी डमरु कर, जयघोष हुआ दुन्दुभी बाजीं ।
सुर समूहको साथ लिये, अप्सरादि गायन करने लागीं ॥

गायन

सज के चली बरात, उपमा दी न जात ।
भूतप्रेत हैं अनेक, डाकनी पिशाचवीर, संग में करें किलोल बोलें हैं विशालबोल
जय उमेश, जय महेश, जय, किशोर, बोले जात ॥ १
चली बरात सुमोद में, सुर समूह सब संग ।
इतने में कमलेश ने, कहे बचन यह व्यंग ॥

Regd. No. B. 3495.

सुनो बराती सकल सब, बिलग बिलग हो जाव ।
ब्रह्म, महेश, सुरेश सब सेन् सहित हो जाव ॥
आदेश सुना जब विष्णू का, तब चली अनीक मोद भरकर ।
सुमनों की वृष्टि अपार हुई, सब चले मोद में भरभरकर ॥
शंकर ने भृंगी को बुलवा, निज गणों को अपने संग किया ।
नाना प्रकार के वेष सहित, निज स्वामी संग प्रस्थान किया ॥
कोई विकृति अग कोई एक पाद, कोई शतमुख दशमुख संग में हैं ।
कोई कर्णरहित कोई उदररहित, कोई धनुष सदृश वक्र भी हैं ॥
बहु नेत्र भी हैं कोई नेत्रहीन, कोई रूष्टपुष्ट कोई अस्थि सदृश ।
कोई मुण्डरहित कोई गिरि सदृश, कोई बहुत भुजा कोई कर सदृश ॥
हैं भूत पिशाच प्रेत सब ही, बैताल वीर सब भयावने ।
बोलत हैं बोल भयंकर सब, अति उग्र विकट सब डरावने ॥
भूषण मुण्डों की माला हैं, बहु रुधिर मांस से सने हुये ।
अस्थियों के कंकण कर में, लसैं हैं विचित्र वेष बनाये हुये ॥
नर कपाल कोइ बजा बजा, कोइ खड़तालों पर नाच रहे ।
सब मंगल गान को गाय रहे, कोई दौड़त कूदत जाय रहे ॥
जब निज सेना को लखा, विहसे पशु पति नाथ ।
मन ही मन श्री विष्णु को, कहत धन्य हो नाथ ॥
सुनी जभी गिरिराज ने, आई निकट बरात ।
ऋषिमुनि ब्राह्मणजन सहित, अगवानी को जात ॥
सुर सेना को देखत, हृदय न हर्ष समाय ।
जब शिव की सेना लखी, भाग चले भय खाय ॥
धीरज धरकर कछुक जन, खड़े रहे वहि ठांय ।
भवन भाग बालक गये, मां से बोले जाय ।
हे माता विकट बरात लखी, मानो यमराज की सेना है ।
वर तो विक्षिप्त सा दीखता है, फिर बरद विराजत बौना है ॥
इस के अतिरिक्त बहु व्यालों से, अरु कपाल धारण किये हुये ।
हैं भूतप्रेत योगनी आदि, सब विकट वेष धारण हैं किये ॥

(क्रमशः)

श्रीनारायण प्रि. प्रेस, अहमदाबाद